जैन आगमों का व्याख्या साहित्य

✡ श्री महेन्द्र मुनि 'कमल'

भावों की अभिव्यंजक भाषा है। भाषा के दो रूप हैं—सांकेतिक और शाब्दिक। सांकेतिक का क्षेत्र सीमित है और शाब्दिक का सीमित एवं असीमित। सांकेतिक भाषा तो प्राणिमात्र के पास है, लेकिन उसमें आशय, प्रयोजन, अनुभूति, भावों एवं अभिव्यक्ति की अस्पष्टता होती है, जबकि शाब्दिक में स्पष्टता। इसीलिए भाषा की परिभाषा की गई है—जो स्पष्ट भावबोधक शब्द रूप हो। मानव शाब्दिक भाषा प्रयोग का अधिकारी है। मानव ने शब्दों का उपयोग किया साहित्य रचने में, भावों की सुरक्षा में और भावी पीढ़ी को विरासत के रूप में अनुभव-कोश सौंपने में।

आज हमारे पास जो साहित्य है, वह शब्दों की देन है, शब्दों का पुंज है। उसमें शब्दों की संख्या सीमित और गणना भी सम्भव है, लेकिन गर्भित भाव असीम हैं। जिनका उद्घाटन होता है विशेषरूप से विवेचन करने पर, विभिन्न दृष्टियों से विश्लेषण करने पर। अन्तर की अनुभूति विवेचन के द्वारा ही व्यक्त होती है।

यही कारण है कि साहित्य के क्षेत्र में विवेचन को विशिष्ट स्थान प्राप्त था और है। सर्वानुमति से यह स्वीकार किया गया है कि ग्रन्थगत रहस्योद्घाटन के लिए उसकी विविध व्याख्यायें आवश्यक हैं। जब तक ग्रन्थगत वैशिष्ट्य की प्रामाणिक व्याख्या नहीं होती, तब तक ग्रन्थ में रही हुई अनेक महत्वपूर्ण बातें अज्ञात रह जाती हैं, यह दृष्टिकोण जितना वार्तमानिक मौलिक ग्रन्थों पर लागू होता है, उससे भी अधिक प्राचीन ग्रन्थों पर। क्योंकि पुरातन ग्रन्थों की रचना पद्धति सूत्रात्मक है इसीलिए उन पर व्याख्या साहित्य का निर्माण करना भारतीय ग्रन्थकारों की परम्परा रही है।

व्याख्या के प्रकार

व्याख्या साहित्य के निर्माण से दो प्रयोजन सिद्ध होते हैं। प्रथम ग्रन्थगत भावों के प्रकटीकरण से जनसाधारण सत्य तथ्यों को समझने में समर्थ होता है, द्वितीय ग्रन्थ के अभीष्ट अर्थ का विश्लेषण करने में व्याख्याकार को असीम आत्मोल्लास की अनुभूति एवं प्रसंगानुरूप अपनी मान्यता तथा बौद्धिक चिन्तन को प्रस्तुत करने का अवसर मिलता है।

व्याख्या और सरिता में समानरूपता है। जैसे सरिता स्रोत से प्रारम्भ होकर क्रम-क्रम से क्षेत्र विस्तार करती हुई नये-नये जल-प्रवाहों को अपने में समाहित करती हुई सागर का रूप ले लेती है वैसे ही व्याख्या व्याख्येय ग्रन्थ के विशेष व पारिभाषिक शब्दों के अर्थ और उनकी परिभाषाओं को बताते हुए युगानुरूप विवेचन प्रक्रिया के अनुसरण द्वारा नये-नये रूपों को धारण कर अपनी पूर्ण विकास अवस्था को प्राप्त होती है। अर्थात् विशेष व पारिभाषिक शब्दों का लाक्षणिक अर्थ बताना और समग्र भावों का विवेचन करना व्याख्या का कार्य है। प्राचीन सभी भारतीय साहित्यकारों ने व्याख्या का यही क्रम स्वीकार किया। निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णि और टीका। निर्युक्ति शब्दार्थ रूप होती है। भाष्य में शब्दार्थ के साथ भावों का विश्लेषण भी किया जाता है। चूर्णि और टीकायें भी भावों का विवेचन करती हैं।

व्याख्या का मूल उद्देश्य ग्रन्थ के आशय को स्पष्ट करना है, पाठक की जिज्ञासा को शान्त करना है। अतः वह किसी भी युगानुकूल प्रचलित भाषा में हो सकती है चाहे फिर वह भाषा संस्कृत हो, प्राकृत हो, हिन्दी हो या अंग्रेजी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अथवा अन्य कोई भाषा। संग्रहणी भी व्याख्या का एक रूप है जिसमें ग्रन्थ के विषय का संक्षेप में परिचय दिया जाता है। वार्तमानिक शिक्षा प्रणाली में प्रचलित प्रेसी (Precis), समरी, नोट्स संग्रहणी के दूसरे नाम हैं।

जैन आगमों पर निर्युक्ति आदि सभी प्रकार के व्याख्यात्मक साहित्य का निर्माण हुआ है। निर्युक्तियों में मूलग्रन्थ के प्रत्येक पद का व्याख्यान न किया जाकर विशेष रूप से पारिभाषिक शब्दों का व्याख्यान है। भाषा प्राकृत और रचना पद्यात्मक है। निर्युक्तियों की व्याख्या शैली गूढ़ और संक्षिप्त है जिससे किसी विषय का जितने विस्तार से विचार होना चाहिये उसका उनमें अभाव है। इनकी अनेक बातें उसके पश्चात् के व्याख्या ग्रन्थों से समझ में आती हैं। अतः इन निर्युक्तिगत गूढ़ार्थों को प्रकट रूप में प्रस्तुत करने के लिए उत्तरकाल में जो पद्यात्मक विस्तृत व्याख्यायें की गईं वे भाष्य के रूप में प्रसिद्ध हुईं। भाष्यों में निर्युक्तियों के गूढ़ अर्थ की अभिव्यक्ति के साथ-साथ यत्किंचित् मूल ग्रन्थगत भावों को प्रकट किया गया है। फिर भी भाष्यों के पद्यात्मक होने से उनमें भावों का प्रकाशन पूर्णरूप से नहीं हो सका। अभिव्यंजना के लिए उनको भी क्षेत्र सीमित है। इसीलिए उन पद्यात्मक व्याख्याओं को व्यापक रूप देने व ग्रन्थगत भावों को विशेष रूप में स्फुट करने की आवश्यकता हुई तब उत्तरवर्ती काल में गद्यात्मक व्याख्यायें प्राकृत अथवा संस्कृतमिश्रित प्राकृत में लिखी गईं। व्याख्या का नवीन रूप होने से यह विद्या चूर्णि के नाम से प्रसिद्ध हुई। चूर्णि तक के व्याख्या साहित्य का रूप प्राकृत और संस्कृत मिश्रित प्राकृत रहा और मौलिक ग्रन्थ के भावों की स्फुट व्याख्या होने पर भी युगानुरूपता को लक्ष्य में रख कर विद्वद् भोग्य शुद्ध संस्कृत भाषा में व्याख्याएँ की गईं, वे टीका के नाम से विख्यात हुईं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि निर्युक्ति से प्रारम्भ हुआ व्याख्या का रूप क्रमशः विकासोन्मुख होकर व्यापक बनता गया, जिसके फलस्वरूप जैन साहित्य की भी वृद्धि हुई। संमान्य विद्वानों ने उसकी गरिमा को परखा एवं सामान्य जन अध्ययन पठन-पाठन की सुविधा प्राप्त कर सका, ग्रन्थ की विशेषता को सरलता से समझ सका।

प्रायः सभी आगमों पर व्याख्या ग्रन्थ लिखे गये हैं लेकिन उनमें भी कल्पसूत्र और आवश्यकसूत्र की टीकाओं की सूची काफी लम्बी है। इसका कारण यह है कि पर्युषण पर्व में कल्पसूत्र के वांचन का विशेष प्रचार होने और आवश्यकसूत्र का साधुचर्या से सम्बन्ध होने के कारण टीकायें अधिक रची गईं।

कतिपय प्रमुख व्याख्याकार

प्रायः प्रत्येक आगम की व्याख्या हुई है। अतः यह जानने की सहज जिज्ञासा होती है कि उन व्याख्याता विद्वान आचार्यों के नाम क्या हैं जिन्होंने साहित्य कोश की श्रीवृद्धि में अपना योगदान दिया है? संक्षेप में उनका परिचय इस प्रकार है—

निर्युक्तिकार

आगमिक व्याख्या में निर्युक्ति का प्रथम स्थान है। विशेष पारिभाषिक शब्दों के विवेचन, विश्लेषण करने को निर्युक्ति कहते हैं। व्याख्यात्मक साहित्य लिखने की प्राचीन परम्परा में इस विधा का अधिक उपयोग हुआ है। वैदिक पारिभाषिक शब्दों की व्याख्या करने के लिए महर्षि यास्क ने निघण्टु भाष्यरूप निरुक्त लिखा है।

निर्युक्तियों की व्याख्यान शैली निक्षेप-पद्धतिरूप है। इस पद्धति में किसी भी पद के अनेक सम्भावित अर्थ करके उनमें से अप्रस्तुत अर्थ का निराकरण कर प्रस्तुत अर्थ को ग्रहण किया जाता है। जैन न्यायशास्त्र में इस पद्धति का विशेष महत्व है। निर्युक्तिकार भद्रबाहु ने निर्युक्ति का प्रयोजन बताते हुए इस पद्धति को सर्वाधिक उपयुक्त बताया है। उन्होंने आवश्यकनिर्युक्ति (गाथा ८८) में स्पष्ट किया है कि प्रत्येक शब्द अनेकार्थक होता है, उसमें से यथाप्रसंग कौन-सा अर्थ उपयुक्त है और भगवान महावीर के उपदेश के समय कौनसा अर्थ किस शब्द से सम्बद्ध रहा आदि बातों पर दृष्टि रखते हुए सम्यक्रूप से अर्थ-निर्णय करना और उसका मूल रूप के शब्दों के साथ सम्बन्ध जोड़ना निर्युक्ति का प्रयोजन है।

निर्युक्तिकार आचार्य भद्रबाहु (द्वितीय) चतुर्दश पूर्वधर आर्य भद्रबाहु से भिन्न हैं और प्रसिद्ध ज्योतिर्विद् वराहमिहिर के सहोदर माने जाते हैं एवं अष्टांग निमित्त व मंत्रविद्या में पारंगत नैमित्तिक भद्रबाहु के रूप में प्रसिद्ध हैं। वराहमिहिर वि० सं० ५६२ में विद्यमान थे। अतः इनका समय भी यही मानना चाहिए। आगम प्रभावक पुण्यविजयजी महाराज तथा प्रसिद्ध साहित्य मनीषी देवेन्द्र मुनिजी शास्त्री का मानना है कि निर्युक्तियों की परम्परा बहुत ही प्राचीन है। प्रथम भद्रबाहु ने भी निर्युक्तियाँ लिखीं और जो रूप वर्तमान में निर्युक्तियों का मिलता है वह रूप द्वितीय भद्रबाहु तक स्थिर हुआ था, इसमें अनेक गाथाएँ प्रथम भद्रबाहु के समय की भी हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आचार्य भद्रबाहु (द्वितीय) ने निम्न आगमों पर निर्युक्तियाँ लिखी हैं—

आवश्यक, दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, आचारांग, दशाश्रुतस्कंध, बृहत्कल्प, व्यवहार।

दूसरे निर्युक्तिकार गोविन्दाचार्य जी हैं। लेकिन उनकी कृतियाँ उपलब्ध नहीं हैं। आचार्य भद्रबाहु ने जैन-परम्परागत अनेक महत्वपूर्ण पारिभाषिक शब्दों की स्पष्ट व्याख्या अपनी आगमिक निर्युक्तियों में की है, जिनका आधार लेकर उत्तरवर्ती भाष्यकारों ने अपनी-अपनी कृतियों का निर्माण किया। इसीलिए जैन साहित्य के इतिहास में आचार्य भद्रबाहु का एक विशिष्ट एवं महत्वपूर्ण स्थान है।

भाष्यकार—निर्युक्तियों की वर्णनपद्धति गूढ़ एवं अति संक्षिप्त है। उनमें पारिभाषिक शब्दों की व्याख्या है। अतः उन गूढ़ार्थों को प्रकट रूप में प्रस्तुत करने के लिए उत्तरवर्ती काल में आचार्यों ने जो व्याख्यायें लिखीं वे भाष्य के रूप में प्रसिद्ध हुई। निर्युक्तियों की ही तरह इनकी भाषा प्राकृत एवं शैली पद्यात्मक है।

प्रत्येक आगम पर जैसे निर्युक्तियाँ नहीं लिखी गईं वैसे ही प्रत्येक निर्युक्ति पर भाष्य भी नहीं लिखे गये हैं। जिन आगमों पर भाष्य लिखे गये हैं उनके नाम हैं:—आवश्यक, दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, बृहत्कल्प, व्यवहार, निशीथ। आवश्यकसूत्र पर तीन भाष्य लिखे गये हैं—(१) मूलभाष्य, (२) भाष्य, (३) विशेषावश्यकभाष्य। प्रथम दो भाष्य संक्षिप्त हैं और उनकी अनेक गाथायें विशेषावश्यकभाष्य में सम्मिलित कर ली गई हैं। उत्तराध्ययनभाष्य बहुत छोटा है। कुल ४५ गाथायें हैं। बृहत्कल्प पर बृहत् और लघु यह दो भाष्य हैं। व्यवहार और निशीथ भाष्य में लगभग क्रमशः ४६२ और ६५०० गाथायें हैं।

उपलब्ध भाष्यों के आधार से आचार्य जिनभद्रगणी और संघदासगणी इन दो भाष्यकारों के नाम का पता चलता है।

अपने महत्वपूर्ण ग्रन्थों के कारण यद्यपि आचार्य जिनभद्रगणी का जैन-परम्परा में महत्वपूर्ण स्थान है लेकिन उनके जीवन की घटनाओं के सम्बन्ध में कोई सामग्री नहीं मिलती है। आचार्य जिनभद्रकृत विशेषावश्यकभाष्य की प्रति शक संवत् ५३१ में लिखी गई और वह वल्लभी के एक जैनमन्दिर में समर्पित की गई। इस उल्लेख से प्रतीत होता है कि उनका वल्लभी से कोई सम्बन्ध अवश्य रहा है। डा० उमाकान्त प्रेमानन्द शाह ने अकोटा गाँव से प्राप्त दो प्रतिमाओं के लेखों के आधार से यह संकेत दिया है कि आचार्य जिनभद्र का समय ई० सन् ५५० से ६०० के बीच होना चाहिये। मुनि श्री जिनविजयजी ने जैसलमेर स्थित विशेषावश्यकभाष्य की प्रति के आधार पर आचार्य जिनभद्र का समय विक्रम सं० ६६६ के आसपास माना है लेकिन यह समय भी विवादास्पद है।

आचार्य जिनभद्र ने विशेषावश्यकभाष्य (प्राकृत पद्य), विशेषावश्यकभाष्य स्वोपज्ञवृत्ति (अपूर्ण संस्कृत गद्य) बृहत्संग्रहणी (प्राकृत पद्य), बृहत्क्षेत्रसमास (प्राकृत पद्य), विशेषणवती (प्राकृत पद्य), जीतकल्प (प्राकृत पद्य), जीतकल्प भाष्य (प्राकृत पद्य), अनुयोगद्वारचूर्णि (प्राकृत पद्य), ध्यानशतक (प्राकृत पद्य)। ध्यानशतक का कर्तृत्व सन्दिग्ध है। आदि ग्रन्थों की रचना की।

संघदासगणी भी भाष्यकार के रूप में प्रसिद्ध हैं। इनके दो भाष्य उपलब्ध हैं—बृहत्कल्पलघुभाष्य और पंचकल्प महाभाष्य। मुनिश्री पुण्यविजयजी के मतानुसार संघदासगणी नाम के दो आचार्य हुए हैं। एक वसुदेव हिंडी के प्रणेता और दूसरे बृहत्कल्पलघुभाष्य व पंचकल्पमहाभाष्य के कर्ता। क्योंकि वसुदेव हिंडी के कर्ता आचार्य धर्मसेन-गणी के कथनानुसार वसुदेव हिंडी प्रथम खण्ड के प्रणेता 'वाचक' पद से अलंकृत थे जबकि भाष्य प्रणेता संघदासगणी 'क्षमाश्रमण' पद से। लेकिन केवल उपाधिभेद से व्यक्तिभेद की कल्पना करना उचित नहीं है। कभी-कभी एक ही व्यक्ति दो पदवियों से अलंकृत हो सकता है और विभिन्न दृष्टियों से उनका समयानुसार प्रयोग भी होता है। अतः संघ-दासगणी नाम से दो अलग-अलग आचार्य हुए हों यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता है। यह सत्य है कि संघ-दासगणी आचार्य जिनभद्र के पूर्ववर्ती हैं।

अन्य भाष्यकारों का भी अनुमान किया जाता है लेकिन उनका निश्चित पता नहीं लगने से यही माना जायेगा कि भाष्यकारों में आचार्य जिनभद्र और संघदासगणी प्रमुख हैं।

चूर्णिकार—निर्युक्ति और भाष्य के अनन्तर व्याख्या विधि में अंतर आया। निर्युक्ति और भाष्य की भाषा प्राकृत एवं शैली पद्यात्मक रही। उनके पश्चात् उत्तरवर्ती आचार्यों ने गद्यात्मक व्याख्या का निर्माण किया। यह व्याख्या

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्राकृत में या संस्कृत मिश्रित प्राकृत में है, जिसे चूर्णि कहा जाता है। चूर्णियाँ आगमों पर और आगमेतर अन्य ग्रन्थों पर लिखी गईं लेकिन उनकी संख्या अल्प है।

जिन आगम ग्रन्थों पर चूर्णियाँ लिखी गईं उनके नाम क्रमशः इस प्रकार हैं:—आचारांग, सूत्रकृतांग, भगवती, जीवाभिगम, निशीथ, व्यवहार, बृहत्कल्प, दशाश्रुतस्कंध, उत्तराध्ययन, आवश्यक, दशवैकालिक, नन्दी, अनुयोगद्वार, जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति। निर्युक्तियों एवं अन्य ग्रन्थों पर भी चूर्णियाँ लिखी गई हैं।

चूर्णिकार के रूप में जिनदासगणी महत्तर का नाम प्रसिद्ध है। इन्होंने कितनी चूर्णियाँ लिखीं यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता है। फिर भी निशीथ, नन्दी, अनुयोगद्वार, आवश्यक, दशवैकालिक, उत्तराध्ययन और सूत्रकृतांग आगमों की चूर्णियाँ इनके द्वारा रचित हैं।

जिनदासगणी महत्तर की जीवनी के बारे में विशेष जानकारी नहीं मिलती। निशीथचूर्णि के अन्त में चूर्णिकार का नाम जिनदास बताया है और उसके प्रारम्भ में विद्यागुरु के रूप में प्रद्युम्न क्षमाश्रमण का नाम तथा उत्तराध्ययनचूर्णि के अन्त में जो प्रशस्ति दी है, उसमें इनके नाम का स्पष्ट उल्लेख नहीं है किन्तु गुरु का नाम गोपालगणी महत्तर है। जिनदासगणी के समय के बारे में उपलब्ध साक्ष्यों से इतना ही कहा जा सकता है कि ये भाष्यकार आचार्य जिनभद्र के बाद और टीकाकार आचार्य हरिभद्र के पूर्व हुए हैं। क्योंकि जिनदासगणी महत्तर ने आचार्य जिनभद्र के भाष्य की अनेक गाथाओं का अपनी चूर्णियों में और आचार्य हरिभद्र ने इनकी चूर्णियों का अपनी टीकाओं में यथास्थान उपयोग किया है। अतः इन दोनों के मध्य में जिनदासगणी का समय उचित प्रतीत होता है। आचार्य जिनभद्र का समय विक्रम सं० ६००-६६० के आसपास है और हरिभद्र का समय वि० सं० ७५७ से ८२७ के मध्य। अतः जिनदासगणी का समय विक्रम सं० ६५०-७५० के बीच मानना चाहिये।

जिनदासगणी महत्तर के अतिरिक्त सिद्धसेनसूरि, प्रलम्बसूरि और अगस्त्यसिंहसूरि ने भी कुछ चूर्णियाँ लिखी हैं।

टीकाकार—आगमों की संस्कृत भाषा में लिखी गई गद्य व्याख्यायें टीका के नाम से प्रसिद्ध हैं। संस्कृत भाषा का विशेष प्रचार-प्रभाव बढ़ने पर जैनाचार्यों ने भी अपने प्राचीनतम आगमग्रन्थों पर संस्कृत में टीका में लिखना प्रारम्भ किया। जिनमें प्राचीन निर्युक्तियाँ, भाष्य और चूर्णियों का उपयोग तो किया ही साथ में नये नये तर्कों, हेतुओं द्वारा पूर्व सामग्री को व्यापक बनाया। प्रायः प्रत्येक आगम पर टीकाएँ मिलती हैं।

टीकाकारों में हरिभद्रसूरि, शीलांकसूरि, वादिवेताल शान्तिसूरि, अभयदेवसूरि, मलयगिरि, मलधारी हेमचन्द्र के नाम प्रमुख हैं। किन्तु इन टीकाकारों से भी पूर्व आचार्य जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। जिन्होंने विशेषावश्यकभाष्य की स्वोपज्ञवृत्ति लिखना प्रारम्भ किया था पर उसे वे अपने जीवनकाल में समाप्त न कर सके और उस अपूर्ण वृत्ति को कोट्याचार्य ने पूर्ण किया। इस दृष्टि से आचार्य जिनभद्र को अन्य टीकाकारों से भी पूर्ववर्ती प्राचीन आगमिक टीकाकार के रूप में स्मरण कर सकते हैं। आचार्य हरिभद्रसूरि आदि प्रमुख टीकाकार के अतिरिक्त अन्य टीकाकार भी हुए हैं। जिनरत्नकोश आदि में आचार्यों के नाम उल्लिखित हैं जिन्होंने आगम साहित्य पर टीकायें लिखी हैं।

हरिभद्रसूरि जैन आगमों के प्राचीन टीकाकार हैं। इन्होंने आवश्यक, दशवैकालिक, जीवाभिगम, प्रज्ञापना, नन्दी, अनुयोगद्वार आगमों पर टीकायें लिखी हैं। आपका जन्म चित्तौड़ में हुआ। वे वहाँ के राजा जितारि के राज पुरोहित थे। गच्छपति गुरु का नाम जिनभट, दीक्षागुरु का नाम जिनदत्त, धर्म-जननी का नाम याकिनी महत्तरा, धर्मकुल का नाम विद्याधर गच्छ है। इनका समय विक्रम सं० ७५७-८२० अर्थात् ई० सन् ७००-७७० है। कहा जाता है कि हरिभद्रसूरि ने १४४४ ग्रन्थों की रचना की थी। उनमें से ७५ ग्रन्थ तो अभी उपलब्ध हैं जिनको देखने से इनकी विद्वत्ता का पता लगता है कि ये एक बड़े बहुश्रुत विद्वान थे।

आचार्य शीलांक के लिए कहा जाता है कि इन्होंने प्रथम नौ अंगों पर टीकायें लिखी थीं। पर वर्तमान में आचारांग और सूत्रकृतांग की टीकायें उपलब्ध हैं। आचारांगटीका की प्रतियों में भिन्न-भिन्न समय का उल्लेख है, जैसे किसी पर शक संवत ७७२ तो किसी पर शक सं ७८४ या ७९८। इससे शक की आठवीं अर्थात् विक्रम की नौवीं-दसवीं शताब्दी इनका समय माना जा सकता है। शीलांकाचार्य शीलाचार्य एवं तत्त्वादित्य के नाम से भी ये प्रसिद्ध हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वादिवेताल, शांतिसूरि उत्तराध्ययनसूत्र की टीका के कर्ता हैं। इनका जन्म राधनपुर (गुजरात) के पास ऊण गाँव में हुआ था। पिता का नाम धनदेव, माता का नाम धनश्री तथा स्वयं का नाम भीम तथा दीक्षा का नाम शान्ति था। शान्तिसूरि का समय पाटन के राजा भीमराज (शासनकाल वि. सं. १०७८ से ११२०) के समकालीन माना जा सकता है। आप भीमराज की सभा में 'वादिचक्रवर्ती' तथा 'कवीन्द्र' के रूप में प्रसिद्ध थे। मालव प्रदेश में विहार करते समय धारा नगरी के प्रसिद्ध राजा भोज (शासन काल वि. सं. १०६७ से ११११) की सभा में ८४ वादियों को पराजित करने पर राजा भोज ने इन्हें 'वादिवेताल' के पद से विभूषित किया था।

आपके गुरु का नाम विजयसिंहसूरि था और बाद में आचार्य पद प्राप्त कर अपने गुरु के पट्टधर शिष्य हुए। आपके ३२ शिष्य थे। उन्हें आप प्रमाणशास्त्र का अभ्यास कराते थे। इसी प्रसंग पर एक विद्वान मुनि चन्द्रसूरि का सुयोग मिला जो बहुत ही कुशाग्रबुद्धि थे। उन्हें भी अपने पास रखकर प्रमाणशास्त्र का विशेष अभ्यास कराया।

अन्त वेला में गिरनार में आकर आपने संथारा किया और विक्रम सं. १०९६ ज्येष्ठ शुक्ला ९ मंगलवार को कालधर्म को प्राप्त हुए।

अभयदेवसूरि नवांगी वृत्तिकार के रूप में प्रसिद्ध है। आपने स्थानांग आदि नौ अंग आगमों एवं औपपातिक उपांग की टीकाएँ लिखी हैं। आपकी कुल रचनाओं का ग्रन्थमान करीब ६०,००० श्लोक प्रमाण हैं।

अभयदेवसूरि का बाल्यकाल का नाम अभयकुमार था और धारा नगरी के सेठ धनदेव के पुत्र थे। आपके दीक्षागुरु का नाम वर्धमानसूरि के शिष्य जिनेश्वरसूरि था। अभयदेव का जन्म अनुमानतः वि. सं. १०८८, दीक्षा वि. सं. ११०४ आचार्य पद एवं टीकाओं का प्रारम्भ वि. सं. ११२० और स्वर्गवास वि. सं. ११३५ अथवा ११३९ माना जाता है।

मलयगिरिसूरि कलिकाल सर्वज्ञ आचार्य हेमचन्द्र के समकालीन थे और उन्हीं के साथ विद्या साधना भी की थी। आप आचार्य थे। आचार्य हेमचन्द्र के समकालीन होने से मलयगिरि सूरि का समय वि. सं. ११५०-१२५० के लगभग मानना चाहिए।

आचार्य मलयगिरिरचित निम्नलिखित आगमिक टीकायें आज भी उपलब्ध हैं—भगवती (द्वितीय शतक) राजप्रश्नीय, जीवाभिगम, प्रज्ञापना, चन्द्रप्रज्ञप्ति, सूर्यप्रज्ञप्ति, नन्दी, व्यवहार, वृहत्कल्प, आवश्यक। कुछ और ग्रन्थों की भी टीकायें लिखी हैं। आपने कुल २६ ग्रन्थों का निर्माण किया था जिनमें से पच्चीस टीकायें हैं। कुल ग्रन्थमान दो लाख श्लोक प्रमाण है। टीकाओं की विद्वद्वर्ग में बड़ी प्रतिष्ठा है।

मलधारी हेमचन्द्रसूरि का गृहस्थाश्रम का नाम प्रद्युम्न था। आप राजमंत्री थे और मलधारी अभयदेवसूरि के शिष्य थे। वि. सं. ११६८ में आचार्य पद प्राप्त किया और सम्भवतः वि. सं. ११८० में कालधर्म को प्राप्त हुए। आपने आवश्यक, अनुयोगद्वार, नन्दीसूत्र की टीकाओं के अतिरिक्त अन्य ग्रन्थों की भी रचना की, जिनका ग्रन्थमान करीब अस्सी हजार श्लोक प्रमाण है।

उक्त प्रमुख टीकाकारों के अतिरिक्त नेमिचन्द्रसूरि ने उत्तराध्ययनवृत्ति, श्रीचन्द्रसूरि ने आवश्यक, नन्दी, निरयावलिका आदि अन्तिम पाँच उपांगों पर टीकायें लिखी हैं। आगमों पर संस्कृत टीकायें लिखने का क्रम विक्रम की सत्रहवीं शताब्दी तक चलता रहा और अनेक आचार्यों ने आगमों या उनके किसी अंश पर विद्वत्तापूर्ण टीका ग्रन्थ लिखे हैं।

लोकभाषा टीकाकार—आगमों की संस्कृत टीकाओं की बहुलता होने पर भी समयानुसार भाषा प्रवाह में परिवर्तन आने और लोक-भाषाओं का प्रचार बढ़ने के कारण तथा संस्कृत टीकाओं के सर्वगम्य न होने से उत्तरवर्ती काल में आचार्यों ने जनहित को दृष्टि में रखते हुए लोक-भाषाओं में सरल सुबोध टीकायें लिखी हैं। इन व्याख्याओं का उद्देश्य आगमों के मूलभावों को समझाने का है। परिणामतः तत्कालीन अपभ्रंश (प्राचीन गुजराती) में बालावबोधों की रचना हुई। इस प्रकार की रचनाओं से राजस्थानी एवं गुजराती बोलियों के जानने वाले आगम-प्रेमियों को काफी लाभ मिला तथा आज तो साधारण-जन भी उन व्याख्याओं को पढ़कर अपनी आगम निधि का रसास्वादन कर सकता है।

बालावबोधों की रचना करने वालों में मुनिश्री धर्मसिंहजी का नाम प्रमुख है। आपने भगवती, जीवाभिगम,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रज्ञापना, चन्द्रप्रज्ञप्ति, सूर्यप्रज्ञप्ति इन पाँच सूत्रों के अतिरिक्त शेष स्थानकवासी सम्मत २७ आगमों के बालावबोध (टब्बे) लिखे हैं। साधु रत्नसूरि के शिष्य पार्श्वचन्द्रगणी (वि० सं० १५७२) विरचित आचारांग, सूत्रकृतांग आदि के बालावबोध भी उल्लेखनीय हैं। इनकी भाषा गुजराती है।

प्रसिद्ध बालावबोधकार मुनिश्री धर्मसिंहजी जामनगर (सौराष्ट्र) के निवासी थे। पिताश्री का नाम जिनदास और माता का नाम शिवादेवी था। आप करीब १५ वर्ष के थे उस समय लोंकागच्छ के आचार्य रत्नसिंह के शिष्य देवजी मुनि का जामनगर पदार्पण हुआ। उनके प्रवचन से प्रभावित होकर आपने व आपके पिताजी ने दीक्षा अंगीकार कर ली थी। अध्ययन करते-करते आपको शास्त्रों का अच्छा अभ्यास हो गया था। आपके बारे में यह प्रसिद्ध है कि दोनों हाथों से ही नहीं दोनों पैरों से भी लेखनी पकड़कर लिख सकते थे। वि० सं० १७२८ आश्विन शुक्ला ४ को आप कालधर्म को प्राप्त हुए।

मुनिश्री धर्मसिंहजी ने २७ सूत्रों के टब्बों के अतिरिक्त निम्नलिखित गुजराती ग्रन्थों की भी रचना की है:—समवायांग की हुण्डी, सूत्रसमाधि की हुण्डी, भगवती का यन्त्र, स्थानांग का यन्त्र, जीवाभिगम का यन्त्र, जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति का यन्त्र, चन्द्रप्रज्ञप्ति का यन्त्र, सूर्यप्रज्ञप्ति का यन्त्र, राजप्रश्नीय का यन्त्र, व्यवहार की हुण्डी, द्रौपदी की चर्चा, सामायिक की चर्चा, साधु सामाचारी, चन्द्रप्रज्ञप्ति की टीप। कुछ ग्रन्थ और भी लिखे हैं लेकिन अभी तक इन ग्रन्थों का प्रकाशन नहीं हुआ है।

आजकल हिन्दी, अंग्रेजी, गुजराती आदि भाषाओं में अनेक आगमों के अनुवाद व सार भी प्रकाशित हुए हैं। आगमों पर महत्त्वपूर्ण शोधकार्य भी चल रहे हैं। आधुनिक दृष्टि से आगमों का सम्पादन कार्य भी चल रहा है।

सुप्रसिद्ध साहित्य मनीषी श्री देवेन्द्र मुनिजी शास्त्री ने अपने महत्त्वपूर्ण शोधप्रधान ग्रन्थ "जैन आगम: साहित्य मनन और मीमांसा' में आगम और उसके व्याख्या साहित्य पर विस्तार से प्रकाश डाला है। मैंने बहुत ही संक्षेप में यहाँ कुछ विचार व्यक्त किये हैं। विशेष जिज्ञासुओं को प्रस्तुत ग्रन्थ रत्न पढ़ने के लिए सूचन करता हूँ।

पुष्कर वाणी

कुछ बालक पिंग पांग खेल रहे थे। मैंने देखा कि एक छोटा सा बॉल है, उस पर जितनी चोटें लगती हैं वह उतना ही जोर से उछलता है। उछलने का रहस्य क्या है? बॉल का हलकापन! बॉल हलका होता है, इसलिए उछलता है।

क्रोध आदि विकारों से हलके आत्मा पर भी संसार में चाहें जितनी चोटें लगें, वह उनमें दुःखी नहीं होता अपितु अपने आप में मगन बना उछलता है, कूदता है, अर्थात् प्रसन्न रहता है।

वास्तव में आत्मा तो हलका है, वजन है कर्मों का, विकारों का। स्थूल भौतिक पदार्थों का।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org